

प्राचीन भारतीय साहित्यों के माध्यम से नगरीय व्यवस्था के पतन का सूक्ष्म अवलोकन

अतुल नारायण सिंह, शोध छात्र, प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

पुरातात्विक साक्ष्य के आधार पर नगरों के हास और नागरिकों के पलायन के बीच अंतर करना आवश्यक होगा। इसका कारण यह है कि आधे से अधिक मामलों में नगरों का पतन होना पहले शुरू हुआ और बाद में वहाँ से नागरिकों ने पलायन करना आरंभ किया। ऐसा प्रतीत होता है एक निश्चित समय के बाद जब नगरीय बस्तियों में नियोजित संरचनात्मक कार्यकलाप में कमी आ गई तो नगरों की क्षय-प्रक्रिया शुरू हो गई। इस प्रक्रिया के सूचक पर्याप्त पुरातात्विक अवशेष जैसे धातु निर्मित वस्तुएं, मृद्भांड, मनके और पकी मिट्टी वाले बरतनों के टुकड़े एवं मृण्मूर्तियां आदि मिले हैं, और मिलते जा रहे हैं। यह तो हुई क्षय-प्रक्रिया, पर पलायन-प्रक्रिया का तकनीकी अर्थ यह है कि किसी काल-विशेष में किसी बस्ती-विशेष के लोगों ने वहाँ आगे से निवास करना बंद कर दिया अर्थात् वे लोग उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र जा बसे और आज उनकी इस पलायन-प्रक्रिया के सूचक स्मृति-चिन्ह उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में नगरों का क्षय तीसरी सदी के अंत तक पूरा हो गया अर्थात् इस समय-सीमा में ही वहाँ नियोजित संरचनात्मक कार्यकलाप समाप्त हो गए। किन्तु इसके बाद भी वहाँ लोगों ने बसना बंद नहीं किया। इस बात के प्रमाण उत्तर भारत और दक्षिण भारत-दोनों ही क्षेत्रों से उपलब्ध हुए हैं। गुप्तकालीन और उत्तर-सातवाहनकालीन पुरातात्विक अवशेषों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि चौथी, पांचवीं और छठी सदियों में भी यहाँ बस्तियाँ थीं। हाँ, इसके बाद की बसावट के चिन्ह नहीं मिलते। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिन नगरों का क्षय तीसरी सदी की समाप्ति से पहले शुरू हो गया था वहाँ से नागरिकों का अंतिम रूप से पलायन केवल पांचवी सदी के अंत और छठी सदी के प्रारंभ के आसपास ही संभव हो पाया। निहारंजन ने आरंभिक भारतीय नगरों का 'विदेशी' और 'स्वदेशी' रूप में अस्थायी वर्गीकरण करते हुए और यह तर्क देते हुए कि नगरीकरण का काल लम्बा (600 ई0पू0 से 600 ई0 तक) रहा था, बताया है कि उस काल में नगर-निर्माण का काम सबसे अधिक 300 ई0पू0 से लेकर 600 ईसवी तक हुआ।¹ इसी प्रसंग में रे महोदय ने यह भी कहा है कि 600 ई0 से लेकर 1250 ई0 के बीच नगर-निर्माण के अथवा शहरी जीवन पद्धति का कोई चिन्ह उपलब्ध नहीं होता। रे का मानना है कि 'विदेशी' किस्म के भारतीय नगरों का क्षय तो तीसरी सदी के आसपास शुरू हो गया था किन्तु आरंभिक भारतीय नगरों के बारे में अन्य इतिहासकारों की यह जो ज्ञात और आम धारणा है कि उन सभी नगरों का हास तीसरी सदी के अंतिम वर्षों से शुरू हुआ, इससे वह केवल आंशिक रूप से ही सहमत है।

तीसरी सदी के अंत के साथ-साथ ही नगरों के क्षय होने के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। तीसरी और पांचवीं सदियों के बीच जिन अधिक महत्वपूर्ण नगरों का क्षय हुआ उन समृद्ध नगरों में से कुछ के नाम हैं: मथुरा, वाराणसी (राजघाट), कुरुक्षेत्र (राजा कर्ण का किला), श्रावस्ती (सहेत-महेत), प्रयाग (मिता), कौशाम्बी, उज्जैन, विदिशा, त्रिपुरी (जबलपुर), हस्तिनापुर पाटलिपुत्र (कुम्हार), चंपा (भागलपुर), वैसलि (बसरा), छेदर (हाजीपुर के पास) और छिंद (छपरा के निकट)। भारत के प्रायद्वीपीय क्षेत्र में

1. रे, निहारंजन, 'दि अर्बन-रूरल डायकोटमी इन इण्डियन ट्रेडिशन' भंडारकर प्राच्य विद्या संस्थान में अध्यक्षीय भाषण, अगस्त, 1976

2. द्रष्टव्य, एनशिप्ट इण्डिया, अंक-2, 4, 5
3. सौन्दरानंद, ई0एच0 जानस्टन (सं0), सर्ग-1, श्लोक 42-58 आक्सफोर्ड, 1932.
4. द ट्रेवेलज ऑफ फाह्यान (अनुवाद) एल0ए0 गाइज पृ0सं0-12, 20, 61, दिल्ली, 1972
- अर्थात् दक्षिण भारत में भी अधिकांश नगरों का क्षयकाल उत्तरभारत जैसा ही लम्बा रहा होगा-इसके स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। इस क्षेत्र के जो नगर 250 ई0पू0 से लेकर 250 ई0 तक समृद्ध थे, ऐसा लगता है कि वहां से तीसरी सदी के अंतिम वर्षों में यकायक ही पलायन हो गया। कनार्टक में ब्रह्मगिरि, चंद्रोवल्ली, हेमिगे, और बड़गाँव-माधोपुर, महाराष्ट्र में कोल्हापुर, आंध्र प्रदेश में कोंडपुर, मस्की-अमरावती, तमिलनाडु में अरिकमेड, तिरुकंपुलियार और अलगगै, तथा उड़ीसा में शिशुपालगढ़ नामक स्थानों पर हुए उत्खनन कार्यों के परिणामस्वरूप उपलब्ध प्रमाण उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि करते हैं।²
- आरम्भिक मध्यकाल की साहित्यिक रचनाओं में नगरों के क्षय और वहाँ से पलायन की गाथाएँ भरी पड़ी हैं। इससे पहले वाले काल की रचनाओं में इनका उल्लेख नहीं मिलता। ईसा की पहली सदी में रचित अश्वघोष की सौंदरानंद नामक कृति में³ कपिलवस्तु की शोभा का वर्णन करने वाले कई श्लोक मिलते हैं। कवि पहले इस नगर के शिलान्यास की कथा कहता है, फिर वहाँ के लम्बे-चौड़े राजमार्गों का विशद वर्णन करते हुए बताता है कि उन राजमार्गों से अन्य कई पथ और वीथियाँ आ मिलती हैं। यही नहीं, वह वहाँ के जनसंकुल व्यवस्थित व्यापार केन्द्रों तथा दीर्घ सोपानयुक्त भव्य प्रासादों का वर्णन भी करता है। वह वहाँ की भीड़भाड़ भरी गलियों के बारे में यहाँ तक बताना नहीं भूला है कि यदि किसी पैदल यात्री को अपने गंतव्य स्थल पर पहुंचने की जल्दी हो तो वह अपेक्षाकृत कम भीड़ वाली सड़क या गली से होकर निकलेगा। कुछ सदियों के बाद (399-414 ई0) फाह्यान नाम के चीनी यात्री ने कपिलवस्तु का जो चित्रण किया है, वह उपर्युक्त वर्णन से ठीक उलटा है। तब तक यह नगर पूरी तरह से उजड़ चुका था। उसे वहाँ केवल कुछ परिवार और इधर-उधर घूमते-फिरते कुछ भिक्षु वर्ग के लोग ही दिखाई पड़े। निर्जन कपिलवस्तु के आसपास वाले ग्रामीण क्षेत्र के बारे में चीनी यात्री लिखता है कि उसे यह क्षेत्र भी जनशून्य ही लगा। वहाँ निवासियों की संख्या विरल थी, तथा सड़कों पर हाथी और सिंह स्वच्छंदता से विचरण करते हुए दिखाई पड़े। फाह्यान ने अपने यात्रा-वर्णन में गया और श्रावस्ती का भी उल्लेख किया है जो कभी अत्यंत समृद्ध नगरों में गिने जाते थे। सौंदरानंद में उल्लेख आया है कि गया में बुद्ध ने कई हजार लोगों को अपने धर्म में दीक्षित किया था। किंतु फाह्यान के वर्णनानुसार अब वह एक ऐसा परकोटे वाला नगर था जो पूरी तरह से ध्वस्त हो चुका था। श्रावस्ती नगर के बारे में पुरातत्वविदों का कहना है कि यह नगर ईसा की चौथी सदी के आसपास ध्वस्त हो चुका था। चीनी यात्री ने यहाँ यत्र-तत्र आवासगृह देखे थे जिनमें रहने वाले परिवारों की कुल संख्या दो सौ से अधिक नहीं रही होगी। स्पष्ट है कि जो नगर कभी समृद्ध था अब वह उजड़कर एक बड़े गाँव जैसा ही रह गया था।
- फाह्यान के विस्तृत विवरणों से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि चौथी सदी के अंत और पांचवीं सदी के आरंभ के आसपास तक लगभग सभी बड़े नगरों का हास हो चुका था और इसलिए फाह्यान के यात्रा-वर्णन में समृद्ध नगर-जीवन का चित्रण नहीं मिलता। उसके काल में केवल एक ही नगर ऐसा बचा था जो तब भी चहल-पहल युक्त और जीवंत था। दिलचस्प तथ्य है कि उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी भारत के कई प्राचीन नगरों का फाह्यान ने 'ग्रामीण क्षेत्र' के रूप में उल्लेख किया है। इनमें तक्षशिक्षा, पेशावर (पुरुषपुर), मथुरा और कौशाम्बी सम्मिलित हैं।⁴ निश्चय ही ये प्राचीन नगर फाह्यान के यात्राकाल तक उजड़कर जिस दयनीयावस्था में पहुंच गए थे उसे देखते हुए उन्हें आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों से अलग पहचानना नितांत कठिन हो गया था। मथुरा को 'देहाती इलाका' मानते हुए उस यात्री ने वहाँ के बाजारों

के बारे में यह कहा है कि वहां विनिमय-माध्यम के रूप में कौड़ियों का प्रयोग होता था। उसके इस कथन से तो यही ध्वनि निकलती है कि हारसोन्मुख बाजार-व्यवस्था के एक अभिलक्षण के रूप में वहाँ लेन-देन की यह स्थानीय प्रथा थी।

गाथासप्तशती को प्रायः सातवाहन काल की रचना माना जाता है किंतु उसमें आए अधिकांश श्रृंगारिक पद्य बाद में क्षेपक के रूप में जोड़े गए लगते हैं-इस आधार पर उसे उत्तर-सातवाहन काल की रचना मानना ही उपयुक्त होगा। इस कृति में एक अत्यंत महत्वपूर्ण संदर्भ यह आया है कि किसी उजड़े शहर में एक अकेली मूर्ति स्थापित थी जो शुष्क पुष्पों से अलंकृत थी।⁵ तीसरी से पांचवीं सदी के बीच रचे गए आरंभिक पुराण साहित्य में ऐसे कई प्रसंग आए हैं जिनमें अकाल, महामारी और दमनात्मक कराधान की वजह से नगरों के उजड़ जाने की बात कहीं गई है। समृद्ध नगरीय केन्द्रों के क्षय का एक प्रमुख कारण नगरों का जल जाना दिया जाना भी था। पांचवीं से दसवीं सदी तक के ज्ञात शिलालेखों और साहित्यिक रचनाओं में कई जगह ऐसे नगरों का उल्लेख है जिन्हें सोदेश्य आग लगाकर भस्मीभूत कर दिया गया था। इसी काल के कुछ पुराणों में नगरदाह करने वाले अपराधियों के लिए नरक-गमन जैसे दंडविधान का उल्लेख किया गया है।⁶

छठी सदी में हुए वराहमिहिर ने ऐसे कई अनिष्टसूचक शुकनों का उल्लेख किया है जिनकी वजह से नगरों का विध्वंस और वहाँ से नागरिकों का पलायन संभव था। नगरों के उजड़ जाने के जो प्रमुख कारण गिनाए गए हैं, वे हैं: सूखा, अभाव, शत्रु द्वारा आक्रमण और नदी-प्रवाह में परिवर्तन।⁷ दंडी की अवंतिसुंदरीकथा नामक रचना में अकाल और सूखा को भी नगरों के उजड़ जाने का कारण माना गया है। दंडी सातवीं सदी में पल्लव राजसभा का सदस्य था। उसे बाध्य होकर अपने गृहनगर कांची को छोड़ देना पड़ा। वहाँ से निष्कासित होकर वह जीविका की खोज में सुदूर प्रदेशों में मारा-मारा फिरता रहा। उसके दशकुमारचरित में लगातार बारह वर्षों तक वर्षा नहीं होने की वजह से हुए सर्वनाश का चित्रण किया है। वह लिखता है कि इसके परिणामस्वरूप सारा त्रिगर्त प्रदेश तबाह हो गया। वहाँ फसलें नष्ट हो गईं, धरती खेती के योग्य नहीं रही, वहाँ से लोग अपना देश छोड़कर भाग गए और इस तरह कई नगर नष्ट-भ्रष्ट हो गए। इस प्रसंग में वहाँ शून्यभूतानि⁸ शब्द का प्रयोग हुआ है जो बस्तियों के उजड़ जाने का वाचक है। कवि ने अपने ग्रंथ में विंध्य प्रदेश के एक नगर के उजड़ जाने का भी उल्लेख किया है। राष्ट्रकूट राजा कृष्णदेव तृतीय के शासनकाल में कर्नाटक प्रदेश के एक जैन साधु द्वारा रचित यशस्तिलक चंपू काव्य में नगरों के पलायन के कई महत्वपूर्ण संदर्भ मिलते हैं। वहाँ किसी राजप्रासाद के खंडहरों की पुरानी ईंटों का उपयोगकर एक जैन मंदिर के निर्माण का भी उल्लेख हुआ है।

सभी प्रकार के निर्माण कार्यों में ईंटोंके उपयोग से संबंधित जो उल्लेख साहित्यिक ग्रंथों में मिलता है वह भी इस प्रसंग में विचारणीय है। आरंभिक मध्यकाल के जैन पुराणों में सुनहरे रंग की ईंटों का उल्लेख आया है। ईंटों के इस रंग विशेष के उल्लेख से तो ऐसा लगता है कि ईंटें या तो कम पकी रही होंगी या फिर अधिक पकी क्योंकि सभी जानते हैं कि ठीक पकी ईंटों का रंग कभी सुनहरा नहीं होता। सफाई कार्यों के लिए मिट्टी से बनी ईंटों के उपयोग का जो संदर्भ आया है वह भी महत्वपूर्ण माना जा सकता है। मिट्टी की ईंटों का उपयोग तो किसी प्रकार के निर्माण-कार्य के लिए ही हुआ होगा। इसी प्रसंग में विष्णुपुराण⁹ के उस महत्वपूर्ण अंश का उल्लेख करना भी अनुचित नहीं होगा जहाँ नरक प्राप्त करने वाले

5. गाथा सप्तशती, आर0जी0 बसाक (सं0) अध्याय-2, पद्य-94, कलकत्ता, 1956

6. विष्णु पुराण, अध्याय-24, श्लोक-94.

7. बृहत्संहिता, XLVI 36, 41, 47, 55 आदि

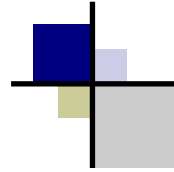
8. दशकुमार चरित, एम0आर0 काले (सं0) चौथा संस्करण, छठा उच्छ्वास, पृ0सं0 157, दिल्ली, 1966

9. शर्मा, आर0एस0, 'दि लेटर वैदिक फेज एण्ड दि पेन्टेड ग्रे वेयर कल्चर, पृ0-4, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस (जादवपुर, 1974)

10. यशस्तिलक,
अध्याय-4, पृ0 247.

लोगों की सूची में ईंटों के भट्टे पर काम करने वाले मजदूर का नाम भी सम्मिलित है। यह श्लोक उस काल विशेष का सूचक माना जा सकता है जब निर्माण कार्य के लिए भट्टे में पकी ईंटों का उपयोग बहुत कम होता होगा।

कोल्हापुर के बारे में जो पुरातात्विक रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उसे पढ़कर तो ऐसा लगता है कि वहां धार्मिक भवनों को छोड़कर अन्य प्रकार के सुदृढ़ पक्के मकानों का निर्माण नहीं होता था। कोल्हापुर नगर के पुरातात्विक स्थलों से जो अवशेष मिले हैं, उनसे तो यह सिद्ध होता है कि वहाँ सातवाहन कला में और फिर उत्तरकालीन शिलाहार काल तथा पूर्ववर्ती विजयनगर काल में (ग्यारहवीं से पंद्रहवीं सदी) सुदृढ़ भवन निर्मित हुए थे। इन दोनों के बीच वाले काल के निर्माणावशेष नहीं मिलते। इस बात का भी महत्व है कि ग्यारहवीं से पंद्रहवीं सदी के बीच रचित स्थापत्य साहित्य में तथा छठी से दसवीं सदी के बीच वाले जैन साहित्य में कई मंजिलों वाले नियोजित भवनों के निर्माण का प्रचुरता से उल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिए, यशस्तिलक¹⁰ में कई कमरों वाले एक सातमंजिले भवन का उल्लेख मिलता है। निश्चय ही, यह भवन और ऐसे ही अन्य भवन काष्ठ-निर्मित रहे होंगे क्योंकि ईंट-पत्थर से बनने वाली बहुमंजिली इमारतों के लिए काफी गहरी और मजबूत नीवों की जरूरत होती है जबकि उपलब्ध पुरातात्विक अवशेष इस बात की पुष्टि नहीं करते। कोल्हापुर वाले प्रसंग में उत्तरवर्ती सातवाहन काल और पूर्ववर्ती शिलाहार काल के बीच वाले कालखंड में पकी ईंटों से निर्मित भवनों के अभाव से यह विचार-बिंदु पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है।



लेखक परिचय

अतुल नारायण सिंह

शोध छात्र, प्राचीन इतिहास विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

ईमेल- ans251290@gmail.com